नहीं है, उससे शान्तिलाभ की आशा दुराशा ही है। मैं कैसे निवृत्तिलाभ करूँगा, यही मैं सदा विचार करता हूँ'।। 7।।

जन्मावलिवस्त्रायामिन्द्रियग्रन्थयो दृढाः।
ये बद्धास्तद्विमोक्षार्थं यतन्ते ये त उत्तमाः।।
10।।

'इन्द्रियों का विषयों की आसक्ति से मुक्त होना बड़ा ही कठिन है। अतएव इन्द्रियाँ ठहरीं कभी न सुलझनेवाली दृढ़ ग्रन्थियाँ; उन ग्रन्थियों द्वारा जन्म – परम्परारूपी चमड़े की रस्सी में बाँधे गए जीवों में से जो लोग उससे छुटकारा पाने के लिए यत्न करते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं'।। 10।।

विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम्।।
13।।

'कुटिल विषय ही विष है, प्रसिद्ध विष विष नहीं है, क्योंकि विष एक ही देह का (जिस देह से उसका सम्बन्ध होता है) विनाश करता है, पर विषय तो अन्य जन्मों में भी देह को मृत्यु के मुंह में डालते हैं'।। 13।।

क्रकचाग्रविनिष्पेषं सोढुं शक्नोम्यहं मुने !
संसारव्यवहारोत्थं नाऽऽशा विषयवेशसम्।।
18।।

'यदि कोई मुझे आरे से चीरे तो मैं आरे के दाँतों की रगड़ सहने के लिए समर्थ हूँ, परन्तु सांसारिक व्यवहार से उत्पन्न एवं आशा और विषयों से होनेवाले संघर्ष को मैं सहने के लिए समर्थ नहीं हूँ'।। 18।।

एवमभ्युत्थितानर्थ शतसङ्कटकोटरे।
जगदालोक्य निर्मग्नं मनो मननकर्दमे।। 1।।
सर्ग 30।।

' इस प्रकार सैकड़ों अनर्थों से परिपूर्ण संसाररूपी अन्धे कुएँ के छिद्र में सम्पूर्ण प्राणियों को मग्न देखकर मेरा मन चिन्तारूपी कीचड़ में फँस गया है' ।। 1।। सर्ग. 30।

क्या है कोई उपाय ?

लग्नेनाऽपि किलाऽङ्गेषु बहुधा बहुमानद।
कथं संसारपङ्केन पुमानहि न लिप्यते।।
13।।

'इस संसार में वह कौन–सा उपाय है जिससे कि संसाररूपी कीचड़ (पापरूप, शोक – मोहरूप पंक) का अनेक बार शरीर से सम्पर्क होने पर भी मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता'।। 13।।

तत्त्वं कथय मे किंचिद्येनाऽस्य जगतः प्रभो !
वेधि पूर्वापरं धातुश्चेष्टितस्याऽनवस्थितेः।।
21।।

'मुझे उस तत्त्व का उपदेश दीजिए जिससे में अव्यवस्थित ब्रह्मा की कृति जगत् की पूर्वापर वस्तु जानूं। आदि और अन्त में अवशिष्ट रहनेवाले पारमार्थिक तत्त्व को जानूं।। 21।।

अयं दग्धसंसारो नीरन्ध्रकलनाकुलः।
कथं सुस्वादुतामेति नीरसो मूढतां विना।।
8।।
सर्ग 31।।

'यह निन्द्य संसार निरन्तर दुःख–प्राप्ति से परिपूर्ण है, अतएव इसमें कुछ भी रस (स्वाद) नहीं है। कृपया बतलाइए कि यह किस उपाय से अज्ञान – निवृत्ति द्वारा सुस्वादु (सरस) बनता है'।। 8।।

संसार तथा संसारी वस्तुओं का ऐसा वर्णन सुनकर यह शंका हो सकती है कि जब संसारी व्यवहारों से दुःख होता है तो फिर इन्हें त्याग क्यों नहीं देते ? ऐसी शंका को दूर करने के लिए राम जी कहते हैं :

यस्मात्किलं जगत्यस्मिन् व्यवहारक्रियां विना।
न स्थितिः सम्भवत्यब्धौ पतितस्याऽचला यथा।
14।।

'जैसे सागर में उत्पन्न हुई मछली आदि जल–जन्तुओं के प्राण जल के बिना नहीं रह सकते, वैसे ही व्यवहारों के सम्पादन के बिना इस संसार में स्थिति नहीं हो सकती'।। 14।।

मनो मननशालिन्याः सत्ताया भुवनत्रये।
क्षयो युक्ति विना नाऽस्ति ब्रुते तामलमुत्तमाम्।
16।।

'मुनिश्रेष्ठ ! तीनों भुवनों में मन का विषयों से संसर्ग होना ही मन की सत्ता (अस्तित्व) है। उसका विषयों से सम्पर्क न होना ही उसकी सत्ता का विनाश है, यथा मन की सत्ता का विनाश तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करनेवाली युक्ति के उपदेश के बिना नहीं हो सकता। इसलिए मुझे बार–बार उस युक्ति का उपदेश कीजिए।। 16।।

श्री राम जी ने इसके पश्चात् गुरु वसिष्ठ जी से यह कह दिया कि यदि तत्त्वज्ञान तक पहुँचनेवाली उक्त युक्ति मुझे प्राप्त नहीं होती तो–

न किंचिदपि वांछामि देहत्यागादृते मुने !

'हे मुनिवर ! देहत्याग को छोड़कर और कुछ भी मुझे वांछित नहीं।'

श्री राम के हृदय की व्यथा की यह गाथा भगवान् राम की वाणी से कहलवाई गई है। ऐसी घटना घटी या नहीं घटी, यह भगवान् राम ही जानते हैं, परन्तु यह सत्य है कि इस समय दुनिया के लगभग सारे देशों और प्रायः सभी मनुष्यों की अवस्था ऐसी ही है। इसीलिए यह लम्बा प्रसंग यहाँ देने की मैंने प्रावश्यकता समझी, क्योंकि संसार के दृश्य का इससे अधिक उपयुक्त शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता था। सर्ग 26 के 10 से लेकर 16 श्लोक तक कहे श्री राम के मार्मिक शब्दों को एक बार फिर पढ़ जाइए। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दयनीय अवस्था आजकल के संसारी मनुष्य ही की आवश्यकता नहीं रहने दी कि गुरु वसिष्ठ उन्हें कोई उत्तर दें (यद्यपि गुरु जी ने बड़े विस्तार से उत्तर दिया) क्योंकि इसी कथन में उन्होंने स्पष्ट बतला दिया कि तत्त्वज्ञान प्राप्त किए बिना यह दयनीय अवस्था दूर नहीं हो सकती। वह तत्त्वज्ञान कौन लोग प्राप्त कर सकते हैं और वह तत्त्वज्ञान क्या है, इसका वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है। आगामी पृष्ठों में यह वर्णन पढ़िए :

मनुष्य तत्त्वज्ञान का अधिकारी कैसे बन सकता है ?

क्रमशः

ऐसे में इस देश में बुद्धिवाद, तार्किकता, वैज्ञानिक अभिगम (Scientific temper) आदि का अभ्युदय कैसे हो सकता है ?

राजकोट में श्री रामकृष्ण आश्रम एक प्रसिद्ध संस्था है। वहाँ से **'श्री रामकृष्ण ज्योत'** नामक पत्रिका गुजराती भाषा में प्रकाशित होती है। इस पत्रिका के संपादक स्वामी निखिलेश्वरानंद जी एक सुशिक्षित संन्यासी हैं। वे श्री रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानंद के शिष्य और भक्त हैं। दिसंबर 2021 के अंक के संपादकीय लेख **"सीता स्वरूपिणी श्रीमा शारदा"** में उन्होंने श्री रामकृष्ण परमहंस की पत्नी श्री मा शारदा देवी की तुलना सीता माता से की है। इस लेख में उन्होंने शारदा देवी की उत्पत्ति का जो प्रकार वर्णित किया है यह पढ़कर हमें आश्चर्य होता है कि किसी को महिमामंडित और दिव्य असाधारण व्यक्त करने के लिए हम मनुष्य उत्पत्ति के सृष्टि क्रम का निरादर कर कैसी–कैसी उटपटांग बातें प्रसारित–प्रकाशित कर रहे हैं ! उन्होंने लिखा है कि शारदा देवी का जन्म अलौकिक रूप में हुआ था। पेड़ पर से एक बालिका नीचे उतर कर शारदा देवी की माता जी श्यामासुंदरी जी के गर्भ में प्रवेश कर गई, जो आगे चलकर शारदा देवी के रूप में प्रकट हुई ! शारदा देवी के पिता जी को भी ऐसा ही स्वप्न आया था ! नीचे दिया गया विवरण गुजराती भाषा में है जो श्री रामकृष्ण ज्योत के संपादकीय लेख से ही उद्धृत किया गया अंश है। कृपया इसे पढ़िए और विचार कीजिए कि जब पढ़े–लिखे संन्यासी लोग ऐसी सृष्टि क्रम विरुद्ध बातों का प्रचार कर रहे हैं तो हमारे देश में बुद्धिवाद की स्थापना कैसे हो सकती है?

प्रस्तुति : भावेश मेरजा
8/17–GNFC टाउनशिप,
पो. नर्मदानगर, जि. भरूच, गुजरात – 392015,
मो. 9879528247

सार्वदेशिक आर्य वीरांगना दल का शिविर दिल्ली में

सार्वदेशिक आर्य वीरांगना दल का वार्षिक राष्ट्रीय शिविर 2025 इस बार दिल्ली में दिनांक 7 जून से 15 जून 2025 तक संस्कार शिक्षा कुंज स्कूल, गोंडा रोड, गली नं. 9 बी, स्वतन्त्र नगर, नरेला, दिल्ली–110040 (मोबाईल नं. 9315254900) में आयोजित किया जा रहा है। इसमें भाग लेने के लिए 13 वर्ष से अधिक आयु की आर्य वीरांगनाएँ दिनांक 26 मई 2025 तक अपने नाम निम्नलिखित नम्बरों पर देवें ताकि व्यवस्था सुचारू रूप से हो सके।

साध्वी डॉ. उत्तमा यति
प्रधान संचालिका
9672286863

मृदुला चौहान
संचालिका
9810702760

आरती खुराना
सचिव
9910234595

नीरज कुमारी
कोषाध्यक्ष
8920208536

आर्यसमाज और सनातन धर्म

जाति भेद

● पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय

लोग पूछते हैं कि हिन्दुओं में इतनी जातियाँ कैसे उत्पन्न हो गईं ? क्या ये जातियाँ "सनातन" हैं? इस पर थोड़ा सा विचार कीजिए। वैदिक काल में मनुष्यों के चार वर्ण थे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मनुष्य जाति का यह विभाजन सनातन है क्योंकि देश और जाति को ज्ञान, रक्षा और धन–तीन चीज़ों की ज़रुरत सदा पड़ती है। जो लोग 'ज्ञान' बढ़ाने का मुख्य काम अपने जिम्में लेते हैं वे 'ब्राह्मण' कहलाते हैं क्योंकि 'ब्रह्म' का अर्थ हैं 'वेद या ज्ञान'। जो रक्षा करने का भार अपने ऊपर लेते हैं वे 'क्षत्रिय' कहलाते हैं क्योंकि क्षत्रिय का अर्थ है क्षति से बचाने वाला। जो धन के उत्पादन में लगते हैं वे वैश्य कहलाते हैं। अब रहे साधारण व्यक्ति जो विशेष योग्यता नहीं रखते। यह ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के कामों में मदद देते हैं अर्थात् वे पुस्तकें भी ढो सकते हैं, हथियार भी और अनाज के बोरे भी। उनको स्वतंत्र काम करने की बुद्धि नहीं। वे दूसरों को उनके काम में सहायता दे सकते हैं। इनको "शूद्र" कहते हैं। शूद्र वह है जिसकी दशा शोचनीय हो। अर्थात् जो स्वयं अपनी उन्नति न कर सके। ये चार विभाग गुण–कर्म–स्वभाव के कारण हैं जन्म के कारण नहीं। दुनिया में जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं उनकी भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियाँ होती हैं। किसी की रुचि विद्या ग्रहण करने की अधिक होती है। कोई वीरता दिखाना चाहता है, कोई धन कमाने में चतुर होता है और कोई केवल दूसरों की सहायता कर सकता है। यह चार प्रकार का विभाग सनातन है। हर युग और हर देश में यही चार प्रकार के लोग होंगे इसीलिए यजुर्वेद (31.11) में कहा था कि

(1) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्
(2) बाहू राजन्यः कृतः।
(3) उरूतदस्य यद् वैश्यः।
(4) पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

(1) ब्राह्मण मनुष्य जाति का मुख है। ज्ञान सबसे मुख्य समझा जाता है।
(2) क्षत्रिय बाँह है, बाँह से ही रक्षा की जाती है।
(3) वैश्य जंघा है। व्यापार और खेती से धन बढ़ता है। 'जंघा' व्यापार की प्रतीक है।
(4) दोनों पैरों के लक्षणों के द्वारा 'शूद्रों' की कल्पना की गई क्योंकि पैर मुख की भी सेवा करते हैं, भुजाओं की भी और जांघों की भी। इसी प्रकार ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों सभी को शूद्रों की ज़रुरत पड़ती है।

आरम्भ में समाज का निर्माण इसी प्रकार हुआ था। उस समय हिन्दुओं में जातियाँ नहीं थीं। "वर्ण" थे। वर्ण का अर्थ है "चुनना" ***(वृ–वरणे)***। लोग अपनी रुचि के अनुसार अपने लिए काम चुन लेते थे और समाज उनका उन्हीं गुणों के अनुसार आदर करता था। यह था शुद्ध सनातन धर्म के अनुसार समाज का संगठन। पीछे से इन वर्णो की सन्तान हुई और उसने आलस्य तथा प्रमाद में फँस कर अपने पूर्वजों के गुण कर्म तो छोड़ दिए परन्तु वे उसी आदर की चाह करते रहे, जो उनके बाप दादों का होता था। इस प्रकार जन्म–सिद्ध जातियाँ उत्पन्न हो गई और उन में लड़ाई–झगड़े तथा भेदभाव बढ़ गए। इसको एक उदाहरण से देखिए– कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य डॉक्टरी करना चाहता है वह मेडिकल कॉलेज में दाखिल होता है। कई वर्ष तक परिश्रम करके परीक्षा पास करता है और डॉक्टर बन जाता है। अपने गुणों और सद्–व्यवहार के कारण उसका आदर भी होता है और उसको धन भी मिल जाता है। अब यदि उसका लड़का आलसी और नालायक निकल जाए तो वह अपने बाप के पद और धन दोनों की इच्छा करेगा और चाहेगा कि लोग उसको डॉक्टर कहें क्योंकि उसका बाप डॉक्टर था। उसके बाप ने तो परिश्रम करके डॉक्टरी का पद पाया और यह बिना परिश्रम के ही पद पाना चाहता है। यदि समाज उसको डॉक्टर कहने लगे तो समाज का काम तो नहीं चलेगा क्योंकि उसमें रोगियों के इलाज करने की योग्यता ही नहीं है। काठ के हाथी के समान उसका उपयोग ही क्या ? इसी प्रकार हमारे आजकल के ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का हाल है। उनके बाप दादों ने त्याग, तपस्या, ब्रह्मचर्य और विद्याप्राप्ति के द्वारा ब्राह्मण की पदवी पाई यह लोग बिना किसी परिश्रम के अनायास ही अपने बाप–दादों के पदों के इच्छुक हो रहें हैं। यह सनातन धर्म तो नहीं है। यह तो नया धर्म है।

आर्य समाज कहता है कि सच्ची वर्ण–व्यवस्था स्थापित करो। अर्थात् जैसा जिसमें गुण हो उसको वैसा मानो। यदि ब्राह्मण का लड़का धन कमाता है तो उसे वैश्य कहो, ब्राह्मण क्यों कहते हो ? यदि क्षत्रिय का लड़का मज़दूरी करता है तो उसे शूद्र कहो, क्षत्रिय क्यों कहते हो। यदि मजदूर का लड़का वेदपाठी है तो उसे ब्राह्मण कहो, शूद्र क्यों कहते हो ? ग़लत नाम धरने से समाज में धोखा पैदा होता है और ढोंग बढ़ जाता है। यदि किसी वैद्य का लड़का या पोता वकील बन जाए और अपने को मिस्टर वैद्य कहे तो धोखा होगा क्योंकि अब वह 'वैद्य' की कोटि से निकल गया।

अब रही भेद–भाव की बात ! भेद दो प्रकार का है 'रोटी' का और 'बेटी का' अर्थात्, भोजन करना और विवाह सम्बन्ध करना, पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों और शूद्रों में रोटी का भेद नहीं था। छूत–छात न थी, सब लोग सबका छुआ खा लेते थे। पकाने का काम प्रायः शूद्र करते थे, दक्षिण अफ्रीका में तो खान–पान का भेद भाव बिल्कुल मिट गया है, सब सबके हाथ का पकाया खाते हैं, यह अच्छी बात है। केवल अभक्ष्य का परहेज करना चाहिए अर्थात् मांस और शराब से बचना चाहिए, यह बुरी बात है कि अफ्रीका में शराब का प्रचार बढ़ता जाता है, यह दूसरी जातियों के अनुचित अनुकरण के कारण है। सनातन धर्म और आर्यसमाज दोनों को मिलकर इस दोष को दूर करना चाहिए। जब भारतवर्ष में 1875 ई. में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी उस समय हिन्दुओं में यह छूत–छात का रोग बहुत था और समुद्र को पार करने से ही लोग जाति से अलग कर दिए जाते थे। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के दसवें समुल्लास में इसका प्रबल खण्डन किया है। ईश्वर को धन्यवाद है कि अफ्रीका के सनातन धर्मी तो समुद्र की यात्रा करके ही यहाँ तक पहुँचे हैं। वे समुद्री यात्रा को पाप नहीं मानते इस बाबत उन्होंने आर्यसमाज की बात को पूरा–पूरा मान लिया है। 'बेटी' का सम्बन्ध भी अफ्रीका में अब उतना कड़ा नहीं है। योग्य वर और कन्या को देखकर विवाह होना चाहिए। इस विषय में भी वर और कन्या के गुणों को देखना चाहिए, जन्म को नहीं।

इस विषय में सनातन धर्म और आर्य समाज में इतना भेद नहीं है जो है भी वह कम हो रहा है और यदि छोटी–छोटी बातों पर झगड़ा करना छोड़ दिया जाए तो यह भेद और कम हो जाएगा।

एक बात और याद रखनी चाहिए। विवाह, नामकरण, अन्त्येष्टि आदि संस्कारों में ब्राह्मणों पुरोहितों की ज़रुरत पड़ती है। ब्राह्मण वह है जो ब्राह्मण के से गुण रखे। अतः संस्कार कराने के लिए उन लोगों को चुनना चाहिए जो संस्कार कराने में निपुण हों चाहे वह ब्राह्मण बापदादों की सन्तान हों चाहे दूसरे हों। केवल जन्म परक ब्राह्मण मानने से अविद्या, पाखण्ड, लोभ और आडम्बर बढ़ता है। पुरोहितों को लोभी नहीं होना चाहिए।

लोभी गुरु लालची चेला दोनो खेलें दाव।
भवसागर में डूबते बैठ पथर की नाव।।

जो पैसे–पैसे के लिए सिर चीरते हैं और संस्कार कराने वालों को दिक करते हैं वे ब्राह्मण नहीं हैं। ब्राह्मण के लिए लोभ सब से घातक अवगुण है। हाँ लोगों को सच्चे ब्राह्मणों का सत्कार अपनी योग्यता के अनुसार अवश्य करना चाहिए। यदि निर्धन घरानों में संस्कारों की जरुरत पड़े तो योग्य ब्राह्मणों को बिना संकोच के दक्षिणा का लोभ किए बिना ही उचित संस्कार करा देने चाहिएँ, जिससे धार्मिक कृत्य कराने में किसी को असुविधा न हो।

पुरोहित और यजमान दोनों को चाहिए कि संस्कारों के मूल तत्वों पर दृष्टि रखें, आडम्बरों को बढ़ने न देवें। दूसरे लोगों को भी इस विषय में कोशिश करनी चाहिए।

मैंने कहीं–कहीं दक्षिणी अफ्रीका में भ्रमण करके देखा कि कुछ ऊँची जातियाँ पुरानी रूढ़ियों के अनुसार दूसरे हिन्दू भाइयों से घृणा करती और उनसे अलग रहती हैं, इससे हिन्दू संगठन में बाधा होती है। यदि कोई नीच जाति का पुरुष अपने परिश्रम से बढ़ जावे और धन तथा विद्या में सम्पन्न हो जाए तो यह अच्छी बात है, बुरी बात नहीं, वह प्रशंसा का पात्र है, घृणा का नहीं, उसका उत्साह बढ़ाना चाहिए और उसको समाज में अच्छा आसन देना चाहिए। यह नहीं कहना चाहिए कि इसके बाप दादे नीच या गरीब थे। अब यह बढ़ गया तो हम इसका आदर क्यों करें। गिरते को उठाना और चढ़ते को बढ़ाना हमारा कर्तव्य है। आर्य समाज यही चाहता है। और सनातन धर्मियों का कल्याण भी इसी में है।

कुछ लोग अभी तक यहीं मानते चले आते हैं कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से पैदा हुए, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य जंघों से और शूद्र पैरों से, इसीलिए वे शूद्रों को नीच या अछूत समझते है परन्तु हम ऊपर लिख चुके हैं कि वेद मंत्र का यह आशय नहीं है वहाँ तो साफ लिखा है कि ब्राह्मण समाज का मुख है। ईश्वर तो निराकार है। उसके न मुख है, न बाहू, न जंघा न पैर। तुलसीदास जी कहते है

बिनु पद चले सुने बिनु काना।
बिनु कर काम करे विधि नाना।।

ईश्वर के पैर नहीं, वह चलता है। कान नहीं, वह सुनता है। हाथ नहीं, वह काम करता है।

सनातन धर्मियों को चाहिए कि बहुत से प्रचलित कपोल कल्पित गप्पों को छोड़ देवें। सच्चाई की तलाश कीजिए। कहानियों के भ्रमजाल में न पड़िए। मोटी मोटी बातें तो अकल से ही परखी जा सकती हैं।

'आर्यसमाज और सनातन धर्म' से साभार

आर्यसमाज के 150 वर्ष पूरे होने पर विशेष

आर्य-पथिक का बलिदान

● पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति

जीवन को कभी अपना नहीं समझा—पं. लेखराम जी को ***'आर्य पथिक'*** की उपाधि तब मिली जब वे महर्षि के जीवन–वृत्तान्त की सामग्री एकत्र करने के लिए देश में घूम रहे थे। जीवन वृत्तान्त की सामग्री एकत्र करना तो एक प्रत्यक्ष निमित्त था। पंडित जी की शक्तियाँ केवल उतने कार्य तक परिमित कैसे रह सकती थीं। उनके हृदय में प्रचार की अग्नि जल रही थी। जहाँ जाते व्याख्यानों की झड़ी लगा देते। बीच–बीच में शास्त्रार्थ भी होते रहते थे, साथ–साथ लिखने का भी कार्य चलता जाता था। आर्य–पथिक जैसे अनथक वक्ता थे वैसे ही अनथक लेखक भी थे। अपनी थोड़ी–सी आयु में उन्होंने जितने व्याख्यान दिए थे और ग्रन्थ या लेख लिखे, उन्हें देख कर आश्चर्य होता है। ऐसा अनुभव होने लगता है कि शायद जीवन का **एक क्षण भी उन्होंने अपना नहीं समझा था।** सब कुछ महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के अर्पण कर दिया था।

इच्छा शक्ति का चमत्कार :– उनके लेख सम्बन्धी कार्यों को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। पहले हिस्से में हम उन लेखों को रख सकते हैं जिनमें सामान्य रूप इस्लाम और विशेषतः अहमदिया सम्प्रदाय के नबी मिर्ज़ा गुलाम अहमद कादियानी की कड़ी आलोचना की थी। पंडित जी उर्दू, फारसी के विद्वान् थे। उर्दू लेखकों में उनका बड़ा रौब था। संस्कृत का भी उन्होंने अच्छा अभ्यास कर लिया था। इस कारण पंडित जी के लेखों में युक्ति, प्रमाण और व्यंग्यों का बहुत सुन्दर मिश्रण रहता था। इस श्रेणी के ग्रन्थों में ***'नुसखा खब्ते अहमदिया'*** और ***'तकज़ीब बुराहीने अहमदिया'*** ये दो विख्यात पुस्तकें थीं। ईसाई धर्म के सम्बन्ध में भी आपने कई लेख लिखे। **{ईसाई मत पर मौलिक खोजपूर्ण अद्भुत ग्रन्थ *'कृश्चन मत दर्पण'* लिखा। 'जिज्ञासु'}**

दूसरी कोटि के ग्रन्थ और लेख अपने ढंग के अनूठे थे। वे थे अनुसन्धानात्मक। पहले ग्रन्थ का नाम था ***'सृष्टि का इतिहास'।*** इसमें ऐतिहासिक और शास्त्रीय अनुसन्धान के आधार पर भारत के प्राचीन इतिहास की कई घटनाओं का विवरण दिया गया था। दूसरे ग्रन्थ में आवागमन के पक्ष में युक्तियों के अतिरिक्त विपक्षियों द्वारा किए गए आक्षेपों के उत्तर भी दिए गए हैं। पुनर्जन्म के पक्ष में 27 युक्तियाँ दी गई हैं। **{ऐसा दूसरा ग्रन्थ इस विषय पर पहले कहीं भी किसी ने कहीं लिखा था। इसकी छाप अन्य मत–पंथों पर पड़ी, यह एक निर्विवाद तथ्य है। –'जिज्ञासु'}** इन दोनों ही ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने अपने शास्त्रों के अतिरिक्त बीसियों अंग्रेज़ी के ग्रन्थों से भी लम्बे–लम्बे उद्धरण दिए हैं जो अधिक आश्चर्यजनक हैं क्योंकि पंडित जी अंग्रेज़ी बिलकुल नहीं जानते थे। वे दूसरों से अंग्रेज़ी की पुस्तकों और अखबारों को सुना करते थे और उनमें से जिन उद्धरणों की आवश्यकता होती थी उसका अनुवाद करा लेते थे। **कभी–कभी एक उद्धरण के अनुवाद तीन–तीन व्यक्तियों से कराते थे** और उनकी तुलना करके जिसे अधिक प्रामाणिक समझते, उसे पुस्तक में देते थे। उनके परिश्रम को देखकर आश्चर्य होता है। जो व्यक्ति रात–दिन भ्रमण करता रहे, जहाँ जाए, वहाँ व्याख्यानों या शास्त्रार्थ में व्यस्त रहे वह अनुसन्धान से भरे ग्रन्थ लिख सके और वह भी आयु के केवल उन्तालीस वर्षों में। **इसे इच्छाशक्ति का चमत्कार ही समझना चाहिए।**

खंडनात्मक लेखों में पंडित जी की भाषा बहुत ज़ोरदार रहती थी। ओज उनका स्वाभाविक धर्म था। जब पेशावरी साफा, बन्द गले का कोट और पंजाबी ढंग का पाजामा पहन कर निकलते थे, तब देखने वालों को बिना कहे ही भान हो जाता था कि वह एक असाधारण व्यक्ति है। स्वस्थ शरीर, शेर जैसा गम्भीर स्वर और तेज से चमकती हुई आँखों से देखकर उनकी कार्यशक्ति का अनुमान लग जाता था। प्रसिद्ध शिष्टाचार या तकल्लुफ जैसी वस्तु उनके पास भी नहीं फटक सकती थी। एक बार वे उत्तर प्रदेश में प्रचार के दौरे पर गए। वे खाना खा चुके और थाली से हाथ खींच लिया, तब भी शिष्टाचार के नियम के अनुसार भोजन परोसने वाले सज्जन ने खाना देने का आग्रह जारी रखा। यह बात पंडित जी को बहुत अखरी और उन्होंने परोसने वाले को डाँट लगाते हुए कहा कि क्या मैं झूठ कहता हूँ कि मुझे और भूख नहीं है। **{ऐसी घटनाएँ अन्यत्र भी घटीं। देखिए 'रक्तसाक्षी पं. लेखराम' ग्रन्थ। – 'जिज्ञासु'}**

एक दूसरे अवसर पर भोजन के बाद बेचारे गृहपति ने सभ्यता के विधि–विधान का पालन करते हुए पान पेश किया। आपने डाँट लगाई –"क्या मैं बकरी हूँ जो पत्ते खाऊँगा।" यज्ञ में बैठे हुए एक महाशय हाथ में चन्दन का रस लेकर आपके माथे पर लगाने लगे। आपने अपना हाथ आगे करते हुए कहा– "मेरे हाथ पर चन्दन लगा दो, माथे पर चन्दन लगाओगे तो मुझे जुकाम हो जाएगा।"

लेखों और पुस्तकों के प्रकरण में पंडित जी की इन विशेषताओं की चर्चा मैंने इसलिए की है कि उनके स्वभाव का यथार्थ रूप प्रकट हो जाए। उनके व्यवहार में एक विशेष खुदरापन था जो वस्तुतः उनके अत्यन्त सरल परन्तु ओजस्वी हृदय का परिणाम था। उन पर कवि का यह वचन पूर्ण रूप से लागू होता था:

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि कोहि विज्ञातुमर्हति।।

असाधारण मनुष्यों के चित्त वज्र से भी कठोर परन्तु फूल से भी अधिक कोमल होते हैं। उनके रहस्य को कौन समझ सकता है। उनके भाषणों के समान लेखों में भी भावों की सरलता के साथ कहीं–कहीं भाषा की कठोरता मिश्रित दिखाई देती है।

पं. लेखराम जी कई सामयिक पत्रों के सम्पादक रहे। जब वे पेशावर में पुलिस में नौकर थे तभी आपने ***'धर्मोपदेश'*** नाम का मासिक पत्र निकाला था। वह कुछ दिन चल कर बन्द हो गया। जब नौकरी छोड़ कर आप आर्यसमाज के प्रचारकार्य में लवलीन हो गए, तब आप ***'आर्यगजट'*** के सम्पादक बने। ***'आर्यगजट'*** का मुख्य उद्देश्य वैदिक सिद्धान्त का मंडन और विरोधियों के आक्षेपों का खंडन करना था। थोड़े ही दिनों में सम्पादक के युक्तियुक्त और ओजस्वी लेखों ने आर्यों और आर्येतरों के मन पर ***'आर्यगजट'*** की धाक बैठा दी। **{आर्यगजट का सम्पादन करते हुए अद्भुत ग्रन्थ *'सबूते तनासुख'* (पुनर्जन्म मीमांसा) लिख डाला। – 'जिज्ञासु'}** ऋषि दयानन्द की जीवनी के लिए सामग्री संग्रह करते हुए जब आप अजमेर पहुँचे तब आर्यसमाज की सफलता को सूचित करने के लिए ***'आर्यविजय'*** नाम का सामयिक पत्र निकलवाया।

विवाह तो पहले ही मिशन से हो चुका था – 1893 में पंडित जी की आयु 35 वर्ष की हो चुकी थी। उस वर्ष आप सभा से अवकाश लेकर घर गए और मरी पर्वत के एक गाँव की कुमारी कन्या लक्ष्मीदेवी से विवाह किया। सामान्य मनुष्यों के लिए विवाह जीवन का नया पड़ाव समझा जाता है जिसके पश्चात् उसकी दिनचर्या बदल जाती है परन्तु आर्य पथिक साधारण मनुष्य नहीं थे। **जीवन में परिवर्तन करने वाला विवाह तो बहुत पहले प्रचार की उग्र भावना से हो चुका था।** लक्ष्मी देवी जी से उनका विवाह तो वैदिक आश्रम व्यवस्था की पूर्ति के लिए ही हुआ। विवाह के पश्चात् भी उन्हें केवल प्रचार की ही धुन थी। **शायद ही कोई सप्ताह ऐसा हो जब वे घर पर गृहस्थों की तरह रहे हों।** प्रचार के क्षेत्र में अत्र–तत्र–सर्वत्र गरजते हुए सुनाई देते थे। 1895 में आपको पुत्र उत्पन्न हुआ।

उसका नाम सुखदेव रखा गया परन्तु वह अधिक समय तक इस आर्य युगल को सुख न दे सका। लगभग एक वर्ष तक जीवित रह कर 28 अगस्त 1896 के दिन शिशु सुखदेव ने अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर दी। अभी बच्चे की माता रो रही थीं कि एक समाज से बुलावा आ गया। **{पं. इन्द्रजी ने ठीक ही लिखा है कि सुखदेव के निधन के समय पण्डित जी घर पर ही थे। उसके निधन होते प्रचार यात्रा पर चल पड़े। –'जिज्ञासु'}** आप बिस्तर बाँधकर चल दिए। लक्ष्मीदेवी को आश्वासन देने का काम पंडित जी के मित्रों को करना पड़ा। लक्ष्मी देवी जी सचमुच देवी थीं। वे अपने पति की ऊँची भावनाओं से अनभिज्ञ नहीं थीं। उनके मुंह से कभी किसी ने यह शिकायत नहीं सुनी कि वे परिवार की ओर ध्यान नहीं देते। विवाह के बाद उस देवी ने अपने आपको आर्य पथिक का ही एक आवश्यक अवयव मान लिया था। **{पं. इन्द्रजी ने लक्ष्मी जी के स्वभाव व सोच का चित्र चित्रण अत्यन्त प्रामाणिक व स्वाभाविक किया है। इन्द्रजी ने बाल्यकाल में उन्हें जी भर कर देखा। सूक्ष्म बुद्धि से इन्द्र जी ने बहुत छोटी आयु में लक्ष्मी जी की सोच व व्यवहार का अपने मन में चित्र खींच लिया। – 'जिज्ञासु'}**

गृहस्थ हो जाने पर भी आर्य पथिक की यात्राओं में कमी नहीं हुई। जहाँ भी धर्म चर्चा का डंका बजता था वहाँ मोर्चे पर पंडित जी दिखाई देते थे। यह उनके सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन की चर्या थी। **मिर्ज़ा गुलाब अहमद** ने कादियाँ से धमकी दी तो निर्भय सिपाही शत्रु के दुर्ग में जा धमका। 1891 में हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर वैदिक धर्म के प्रचार का उपनिवेश लगाया गया तो उसके संचालन का कार्य भी पंडित जी को ही सौंपा गया। हैदराबाद, सिन्ध और बूँदी जैसे एक–दूसरे से दूरस्थ स्थानों से जब यह समाचार मिले कि कोई आर्य धर्मावलम्बी विधर्म में जा रहा है तो आप तुरन्त वहाँ पहुँच गए और रक्षा कर ली। जब पंजाब में आर्यसमाज के दोनों दलों में मांस–भक्षण पर झगड़ा चला तब पंडित जी अपनी प्रकृति के अनुसार पूरे ज़ोर से मांस–भक्षण के विरुद्ध आन्दोलन करने लगे। लाहौर में हो या जोधपुर में, जहाँ से आपको यह बू भी आ जाती थी कि मांस–भक्षण पर विवाद चल रहा है वहाँ आप दौड़ कर पहुँच जाते और वाद–विवाद की कमान अपने हाथ में ले लेते। 1894 के पश्चात् आप यह भी सोचने लगे थे कि इस्लामी देशों में जाकर वैदिक धर्म का प्रचार करें। **{जब 1889 में पहली बार पण्डित जी कमालिया गए तब मेहता जैमिनि को वहाँ विदेशों में इराक अरब में प्रचारार्थ साथ लेकर जाने की चर्चा चलाई। यह विचार पण्डित जी के मन में सदा मचलता रहा।}**

कुम्भ स्नान विवेचन

आध्यात्मिक अमृत स्नान या आत्म स्नान

● डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

प्रयाग राज त्रिवेणी के तट पर वैदिक ज्ञान शिविर या आध्यात्मिक समारोह का आयोजन हो रहा था। आध्यात्मिक पिपासुओं की भीड़ लगी हुई थी। लोग आश्चर्यचकित थे कि इतनी अधिक भीड़ कैसे, कहाँ से इकट्ठा हो गई, क्या है इस भीड़ का मकसद ? क्या यह कोरी आस्था है या इसके पीछे कोई महान उद्देश्य है ? इस शिविर में स्वामी वेदानन्दजी मंच में विराजमान थे। अनेक जिज्ञासु उनसे कुम्भ स्नान सम्बन्धी प्रश्न पूछ रहे थे और स्वामी जी अपने विवेक के अनुसार प्रश्नों के उत्तर दे रहे थे। एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया–

"स्वामी जी, हजारों–लाखों व्यक्ति देश–विदेश से आकर आस्था के नाम पर प्रयाग के त्रिवेणी घाट पर डुबकी लगा रहे हैं। क्या है इसका स्वरूप या मकसद?"

"वत्स, आपने 'आस्था' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द में 'आ' का अर्थ है–आध्यात्मिकता में 'स्था' अर्थात् स्थित होना या अपने हृदय में आध्यात्मिक विचारों को स्थापित करना। अपने चिन्तन, अध्ययन, विवेक या सामाजिक मान्यताओं के कारण प्रत्येक व्यक्ति की आस्था एक–दूसरे से भिन्न होती है। कुछ साधारण स्तर के व्यक्ति गंगा के नाम स्मरण मात्र **(गंगा गंगेति या ब्रूयात्)** को मुक्ति का उपाय मान लेते हैं। कुछ लोग गंगा में डुबकी लगा कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, परन्तु कुछ शिक्षित व्यक्ति विशेष तिथि पर पूर्ण कर्मकाण्ड के साथ गंगा स्नान को परम उद्देश्य मान लेते हैं। सबकी अपनी–अपनी आस्थाएँ हैं।"

"स्वामी जी, स्नान आत्मा का होता है या शरीर का?" एक प्रबुद्ध साधक ने प्रश्न किया।

"साधारण व्यक्ति शरीर स्नान को ही परम कर्त्तव्य लेते हैं। पर असाधारण व्यक्ति तो शरीर को आत्मा का आवरण मानते हैं। शरीर की शुद्धि तो जल से होती है। मनुस्मृति में कहा है–**'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति'** परन्तु आत्मा के स्थान के लिए तो अमृत की आवश्यकता होती है।"

"क्या है वह अमृत ?" उसी प्रबुद्ध व्यक्ति ने प्रश्न पूछा।

"हमारे वेद शास्त्रों में कहा गया है–**'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** अर्थात् हे ईश्वर, हमें मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चलिए।

विनाशशील शरीर है–मृत्यु, जब कि अमृत है – शाश्वत परमात्मा। शरीर के बन्धन से मुक्त होकर अमृत स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करना ही मुक्ति है। एक अन्य संस्कृत सूक्ति में कहा गया है **'विद्ययाऽमृतमश्नुते'** अर्थात् वेद शास्त्रों के गहन अध्ययन तथा साधना से हम अमृत स्वरूप ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं। महामृत्युंजय मंत्र में भी कहा गया है– **"मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्"** इसका अभिप्राय है, हे ईश्वर, मुझे जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त कर दीजिए पर अपने अमृतत्व से मुक्त न कीजिए।"

"गंगा जल के बारे में आपके क्या विचार हैं ?"

"गंगा हिमालय के गोमुख से प्रकट होती है अतः इसकी पवित्रता और शुद्ध ता पर किसी प्रकार का प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता। जहाँ तक 'जल' शब्द का प्रश्न है, संस्कृत में 'ज' का अर्थ है–जन्म होना और ल' का अर्थ है– लय होना। हमारा जीवन जन्म और मृत्यु (लय) के दो छोरों में झूलता रहता है। गंगा जल को ही अमृत स्नान कहा गया है। अर्थात् अमृत स्वरूप ईश्वर को प्राप्त करने के लिए शरीर का स्नान अर्थात् शरीर की साधना। संस्कृत में 'स्नात' का अर्थ होता है– नहाया हुआ। अतः अमृत स्नान का अभिप्राय हुआ–अमृत स्वरूप को प्राप्त करने के लिए आत्मा का स्नान अर्थात् साधना पथ को अपनाना।"

"स्वामी जी, 'तीर्थ' शब्द के बारे में आप क्या कहना चाहेंगे?" भीड़ में एक स्वर उभरा।

"पहले यह समझिए कि तीर्थ कहते किसे हैं ? संस्कृत में तीर्थ के बारे में कहा गया है–**'तारयन्तीति इति तीर्थाः'** अर्थात् जो मनुष्य को भवसागर से उतार देते हैं उन्हें तीर्थ कहते हैं। पर ये तीर्थ हैं कौन? इसका उत्तर है– साधु, संत, ऋषि, महर्षि आदि तीर्थ हैं जो अपने अमृतमय वचनों से संसार को भवसागर से पार ले जाते हैं। ये तीर्थ जड़ स्थान नहीं अपितु चेतन साधु–संत हैं। उनकी आध्यात्मिक वाणी ही मानव मात्र का उद्धार करती है।"

"फिर इन तीर्थस्थानों का प्रयोजन क्या है ?" एक जिज्ञासु पूछ ही बैठा।

"बस, इनका यही प्रयोजन है कि पहले गंगा स्नान करके शरीर को शुद्ध कर लो। मनुस्मृति में कहा गया है–**'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति'** अर्थात् जल से शरीर की शुद्धि होती है। शरीर शुद्धि के उपरान्त साधु–संतों की संगति में जाना चाहिए– आत्मस्नान या आत्म शुद्धि के लिए। खेद की बात है कि साधारण व्यक्ति गंगास्नान तक सीमित रह जाते हैं, वे साधु–संतों की वचनरूपी अमृत गंगा में स्नान करने से वंचित रह जाते हैं।"

"स्वामी जी, कुम्भ स्नान का क्या अभिप्राय है?"

"संस्कृत में कुम्भ का अर्थ होता है–घड़ा या घट। हिन्दी में हृदय के लिए **'घट'** शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। जैसे–***'सब घट व्यापक होई रहा।'*** कुम्भ के अन्दर होता है जल और मनुष्य के घट (हृदय) में रहता है–परमेश्वर। इसका मुख्य अर्थ होगा–हृदय रूपी घट में विद्यमान ईश्वर रूपी जल से आत्मा को स्नान कराना अर्थात् आत्मा को परमात्मा के आनन्द में निमग्न करना।

"क्या 'त्रिवेणी' शब्द का भी कोई आध्यात्मिक अर्थ होता है?"

"हाँ, प्रयास करें तो हो सकता है। त्रिवेणी का अर्थ है– गंगा, यमुना और सरस्वती का समागम। लोग त्रिवेणी में स्नान करके मुक्ति की कामना करते हैं। मेरी दृष्टि में आध्यात्मिक दृष्टि से त्रिवेणी का अर्थ हो सकता है – त्रैतवाद। जैसे एक साधारण व्यक्ति त्रिवेणी में स्नान करके मुक्ति की कामना करता है वैसे एक विरक्त, साधक व्यक्ति भी त्रैतवाद अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप को समझ कर जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त हो सकता है।"

"महोदय, गंगावतरण में चार स्थान या तीर्थ महत्वपूर्ण हैं उनके नाम हैं. गोमुख, ऋषिकेश, हरिद्वार और प्रयाग'। क्या इन चारों स्थानों या तीर्थों को चार आध्यात्मिक शब्दों में घटित किया जा सकता है?"

"हाँ, इन चारों तीर्थस्थानों को हम आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की संज्ञा दे सकते हैं। जैसे गंगा गोमुख से होकर क्रमशः प्रयाग तक पहुँचती है उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में साधक धर्म, अर्थ, काम और अन्त में मोक्ष को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भौतिक स्थानों का आध्यात्मिक शब्दों में समायोजन।"

"स्वामी जी क्या गंगा में डुबकी लगाना ही काफी है, इसमें कोई खतरा तो नहीं ?" एक साधारण जिज्ञासु ने प्रश्न किया।

"यदि एक असावधान, अनभ्यस्त व्यक्ति गंगा में डुबकी लगाए तो डूब सकता है परन्तु भक्ति या आध्यात्मिक गंगा में डुबकी लगाने वाला व्यक्ति डूबता नहीं, पार उतर जाता है। कबीरदास जी के शब्दों में– ***'बूड़े अनबूड़े, तरे जो बूड़े सब अंग।'*** अर्थात् जो भक्तिगंगा में नहीं डूबे, मानो वे डूब गए। अर्थात् उनका जीवन व्यर्थ ही बरबाद हो गया परन्तु जो भक्ति गंगा में डूब गए अर्थात् जिन्होंने भक्ति–पथ को अपना लिया, वे संसार रूपी सागर को पार कर गए। अब विचारणीय यह है कि कौन, कहाँ, कब किस गंगा में डुबकी लगाता है ?" स्वामी जी ने अपने विचारों का उपसंहार करते हुए कहा।

"स्वामी जी, आपका बहुत–बहुत धन्यवाद।" सभी जिज्ञासुओं ने स्वामी जी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा।

230, आर्य वानप्रस्थ आश्रम
ज्वालापुर, हरिद्वार
मो. 9639149995

"यदि एक असावधान, अनभ्यस्त व्यक्ति गंगा में डुबकी लगाए तो डूब सकता है परन्तु भक्ति या आध्यात्मिक गंगा में डुबकी लगाने वाला व्यक्ति डूबता नहीं, पार उतर जाता है। कबीरदास जी के शब्दों में- 'बूड़े अनबूड़े, तरे जो बूड़े सब अंग।" अर्थात् जो भक्तिगंगा में नहीं डूबे, मानो वे डूब गए। अर्थात् उनका जीवन व्यर्थ ही बरबाद हो गया परन्तु जो भक्ति गंगा में डूब गए अर्थात् जिन्होंने भक्ति-पथ को अपना लिया, वे संसार रूपी सागर को पार कर गए। अब विचारणीय यह है कि कौन, कहाँ, कब किस गंगा में डुबकी लगाता है ?" स्वामी जी ने अपने विचारों का उपसंहार करते हुए कहा।

क्या देवता शरीर धारी होते हैं ?

● आचार्या डॉ. प्रियंवदा वेदभारती

धर्म का अभिन्न अंग है देवपूजा। देव चेतन और जड़ दो प्रकार के होते हैं। जड़ देवता सूर्य, चन्द्र, जल, वायु आदि हैं और चेतन देवता परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, संन्यासी आदि। परमेश्वर की उपासना का प्रकार योगदर्शन आदि में वर्णित है। माता–पिता आदि चेतन देवताओं की पूजा सत्कार का प्रकार सभी जानते हैं पर सूर्य आदि जड़ देवताओं की पूजा का प्रकार क्या हो यह एक जटिल समस्या है। यदि ये देवता शरीरधारी हों तब तो इनकी पूजा का प्रकार शरीरी चेतन देवों की भाँति होगा अर्थात् इन्हें उत्तम वस्त्र, उत्तम आहार, भोजन आदि दिए जा सकते हैं और यदि ये शरीरधारी नहीं हैं तो इनकी पूजा कैसे की जाए ? इस समस्या के समाधान हेतु पहले यह निर्णय करना आवश्यक है कि वेदादि शास्त्र इन्हें मनुष्यों के सदृश शरीरधारी बताते हैं या अशरीरधारी। इस लेख में वेदार्थ करने में परम सहायक निरुक्त शास्त्र तथा मीमांसा दर्शन के प्रकरणों को उद्धृत कर शास्त्रीय पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है–

निरुक्त के आधार पर देवताओं का आकार विवेचन–

पूर्वपक्ष–निरुक्तकार यास्क इस सम्बन्ध में पहले पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए चार हेतु प्रदान करते हैं कि (1) इन्द्रादि देवताओं की स्तुति चेतन मनुष्यों के सदृश की जाती है (2) इनकी स्तुति मनुष्य सदृश हाथ पैर आदि अंगों के साथ की जाती है (3) इनकी स्तुति पुरुष सम्बन्धी घर, पत्नी, घोड़े, रथ आदि के साथ की जाती है और (4) पुरुष सम्बन्धी खाना–पीना आदि क्रियाओं के साथ इनकी स्तुति की जाती है इससे तो यही सिद्ध होता है कि इन देवताओं के 5 शरीर होते हैं अर्थात् यदि ये शरीरधारी नहीं होते तो इनके हाथ पैर आदि अंगों की चर्चा नहीं होती और न ही उनके घर, पत्नी, पुत्रवधू आदि का वर्णन वेदों में होता अतः देवता शरीरधारी ही हैं।

उत्तरपक्ष–देवताओं के इस पुरुषविध पक्ष का खण्डन करते हुए आचार्य यास्क द्वितीय उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि–

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्। अपितु यद् दृश्यते अपुरुषविधं तद् यथा अग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति। (निरुक्त 7/2)

अर्थात् अग्नि वायु आदित्य आदि का प्रत्यक्ष रूप जो दिखाई देता है वह पुरुषप्रकारक नहीं है इसलिए इन्हें अपुरुषविध मानना ही उचित है। रही बात उपर्युक्त चार देवताओं की तो **"अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः दृश्यते"** इस लोक व्यवहार से वेद भी अछूते नहीं या यूँ कहा जाए लोक में यह व्यवहार वेदों से ही आया है। जैसा लौकिक कवि आकाश, चाँद, नदी आदि से भी मनुष्यों की बातचीत करवा देते हैं वैसे ही वेदों में भी पत्थर, धनुष, नदी आदि जड़ पदार्थों का वर्णन चेतन मनुष्यों के समान पाया जाता हैं। सोमयाग में सोम को पीसने वाली शिलाएँ हरी हो जाती हैं इस पर कविहृदय कहता है मानों ये शिलाएँ अपने हरे मुखों से सोम पीने वालों को सोमपान के लिए बुला रही हैं (द्र.ऋ. 10/64/2)। जब लोक तथा वेद में इन अचेतन पदार्थों के मनुष्य सदृश्य वर्णनों को देखकर किसी की चेतनता की भ्रान्ति व्यर्थ ही है। काव्यों में एतादृश वर्णन रूपकालङ्कार में आया ही करते हैं। ऐसे प्रयोग काव्य की शोभा हैं **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'** स्वयं वेद की घोषणा है। इस प्रकार के वेद के इन वर्णनों को काव्यगत सौन्दर्य के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। इसलिए देवताओं का पुरुषविध पक्ष प्रमाणरूप में उद्धृत नहीं किया जा सकता। **देवता अपुरुषविध** ही हैं।

यद्यपि यहाँ निरुक्तकार ने **'पुरुषविधाः, अपुरुषविधाः, अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः यथा यज्ञो यजमानस्य एष चाख्यानसमयः'** कहकर विभिन्न संप्रदायों के चार पक्ष प्रस्तुत किए हैं और इनमें से स्वयं यास्क को कौन–सा पक्ष अभिप्रेत है यह स्पष्ट विदित नहीं पड़ता, पुनरपि निरुक्त के पूर्वापर प्रसंगों का विश्लेषण करके यह कहा जा सकता है **अपुरुषविध वाला द्वितीय पक्ष ही यास्क का अपना मत है।** अन्य स्थलों में उन्होंने **अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म उपजायते तत्रोपमार्थेन युद्ध वर्णा भवन्ति** (निरु. 2/16) **ऋषे ईष्टार्थस्य प्रितिर्भवत्याख्यान संयुक्ता** (निरु. 10/10) **सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्याद् रसहरणाद् वा** (2/20) आदि कहकर यही सिद्धान्त स्थापित किया है कि वेदों में देवताओं के युद्ध, आख्यान, पिता–पुत्र आदि वर्णनों को देखकर भ्रान्त नहीं होना चाहिए, ये अशरीरी प्राकृतिक पदार्थों के शरीर धारियों जैसे वर्णन मात्र हैं, आलङ्कारिक हैं। वेदों के ऐसे स्थलों में काव्यगत सौन्दर्य का पान करना चाहिए और यथार्थ तत्त्व यौगिक प्रक्रिया द्वारा जानना चाहिए।

देवताओं का आकारचिन्तन (मीमांसा दर्शन के आधार पर) –

मीमांसा दर्शन के नवम दशम अध्याय में भी देवताओं के आकार आदि विषयों पर विस्तार से विचार किया गया है। इस दर्शन का विषय ही चूँकि कर्मकाण्ड है और कर्मकाण्ड में देवताओं के निमित्त हवि दी जाती है तो सम्भवतः जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इन्द्रादि देवता किस रूप में आकार हवि को स्वीकार करते हैं, क्या वे शरीरधारी हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए महर्षि जैमिनि कहते हैं– **विधिशब्दस्य भावः स्यात् तेन चोदना** (10/4/23) इसका भाष्य करते हुए टीकाकार शबरस्वामी कहते हैं यज्ञ में तो शब्दमय मन्त्र है। हवि के साथ उच्चारित किए जाते हैं इसलिए शब्द को ही देवता मानना चाहिए। शब्द अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने से अर्थ भी देवता हो सकता है पर वह परमात्मा होने से गौण ही कहा जाएगा, मुख्य देवता तो शब्द ही है।

{ऋषि परम्परा के संवाहक महर्षि दयानन्द भी इस बात को स्वीकार करते हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदविषयविचार' में महर्षि ने लिखा– अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम्। गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादि देवताख्यान्येव गृह्यन्ते। तेषां कर्मकाण्डादि –विधेर्द्योतकत्वात् (वेदविषयविचार)}

इस प्रकार महर्षि जैमिनि और आचार्य शबर स्वामी एक स्वर में शब्दमयी देवता का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए **देवताओं के शरीरधारित्व का विरोध** कर रहे हैं। आचार्य शबर स्वामी ने नवम अध्याय की सूत्रों की टीका करते हुए देवताओं के आकारचिन्तन में स्वयं भी बहुत कुछ लिखा। पूर्वपक्ष की आकर्षक उत्थानिकाओं के साथ सबल उत्तरपक्ष की छटा देखने योग्य है। विस्तार भय से यहाँ सम्पूर्ण प्रकरण को उद्धृत न कर केवल एक छोटा सा प्रसंग उद्धृत करना ही आवश्यक समझती हूँ। देवमूर्तियों को भोग लगाने वाले असंख्य श्रद्धालुओं से जब यह पूछा जाता है कि यदि आपके देवता भोग आदि ग्रहण करते हैं तो वह भोग सामग्री कम क्यों नहीं होती ? कुछ समझदार व्यक्ति उत्तर देते हैं– **"अन्नरसभोजि मधुकरीवद् अवगम्यते कथम् ? देवतायै प्रत्तं हविः नीरसं भवति तस्माद् अन्नरसं भुङ्क्ते देवतेति गम्यते।"** (शाबरभाष्ये पूर्वपक्षरुपेण)

भ्रमर के समान देवता अन्न के रस मात्र को लेते हैं तभी तो देवताओं को दी हुई हवि नीरस हो जाती है।

पौराणिक भाईयों से इस तर्काभास का उत्तर बड़े प्रबल शब्दों में शबर स्वामी देते हैं–

"न च मधुकरीवद् अन्नरस भोजिन्यो देवता इति प्रमाणमस्ति मधुकरीषु प्रत्यक्षम्। न च तद्वत् देवतायां तस्मान्न भुङ्क्ते देवतेति। यदुक्तं देवतायै प्रत्तं हविः नीरसं भवतीति। नैष दोषः। वातोपहतं नीरसं भवतीति शीतीभूतंच।" (शाबरभाष्यम् 9/1/9)

अर्थात् देवता लोग भ्रमर के समान भोजन के रस मात्र को लेते हैं, यह बात किसी प्रमाण के अभाव में विश्वास के योग्य नहीं। भ्रमर तो फूलों में बैठे हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

पर आज तक देवता किसी श्रद्धालु के भोग को खाते हुए दिखाई नहीं दिए इसलिए यह दृष्टान्त यहाँ ठीक नहीं। दृष्टान्त में परस्पर साम्य होना आवश्यक है और दूसरा जो तर्क दिया "कि देवताओं को दी हुई हवि नीरस हो जाती है, नीरसता में देवताओं का खाना कारण नहीं, बल्कि भोगसामग्री का खुले स्थान पर रखना और ठण्डा हो जाना ही कारण है।"

इसी प्रकार का एक और हास्यास्पद प्रकरण मूर्ति में आस्था रखनेवाले पण्डितों का प्राप्त होता है। आचार्य खण्डदेव मीमांसा दर्शन के देवताओं के आकार प्रकरण का उपसंहार करते हुए अपनी भाट्टदीपिका टीका में लिखते हैं–

"अतः कथमपि न विग्रहादिस्वीकारः किन्तु शब्दमात्रं देवता अर्थस्तु प्रातिपदिकानुरोधात् चेतनोऽचेतनो वा कश्चित् स्वीक्रियते न तु विग्रहादिमान्। उपासनादौ परमध्यानमात्रमाहार्यं तस्येति जैमिनिमतनिष्कर्षः। मम त्वेवं वदतोऽपि वाणी दुष्यतीति हरिस्मरणमेव शरणम्।" (मीमांसा भाट्टदिपिका देवताधिकरण)

इसका संक्षेप में अर्थ इस प्रकार है कि देवता शरीरधारी होता है यह बात कथमपि स्वीकार नहीं की जा सकती है। उपासनादि में उसका ध्यान (बिना मूर्ति के ही) किया जा सकता है। यह जैमिनि मुनि का मत है। यह सब (सत्य) कहते हुए मुझे पाप लग रहा हो तो इसके लिए प्रभु का स्मरण ही मेरे लिए शरण है।

पाठकगण! आचार्य खण्डदेव की यह भीरू स्वीकृति इस बात को प्रमाणित करने में समर्थ है कि सत्य को ग्रहण करने के लिए भी महान् आत्मिक बल की आवश्यकता होती है और वह आत्मिक बल प्राप्त होता है सच्चे ईश्वर की उपासना से। वेदादि शास्त्रों में ईश्वर को एक ही माना है और निराकार माना है। वही एक ब्रह्म अपनी शक्ति से इन देवताओं को संचालित तथा नियन्त्रित करता है। अग्नि जल, वायु आदि देवता शरीरधारी और चेतन नहीं हैं, जड़ हैं। ये न किसी पर प्रसन्न होते हैं न नाराज़ होते हैं, इसलिए इनके प्रसन्न या नाराज होने की जो बात सुनी जाती है वह नितान्त मिथ्या है, पण्डितों की मनगढ़न्त कल्पना है। इनका यथोचित उपयोग लेना ही इनकी पूजा है। यदि हम अपना वास्तविक कल्याण चाहते हैं तो हमें सब प्रकार के अन्धविश्वासों, पाखण्डों को छोड़कर एक निराकार ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए।

एकस्मै देवाय हविषा विधेम।

आचार्या, गुरुकुल
नजीबाबाद (उ.प्र.)

विवाह विधि का एक विवेचन

● भद्रसेन

विवाह–विवाह विविध संस्कारों में से एक प्रतिष्ठित रिवाज़ है जो कि बढ़ती महंगाई में भी पूरी आन–बान–शान के साथ आयोजित किया जाता है। विवाह–वि+वाह का मेल है। वि–उपसर्ग विशेष, विविध, विचित्र, विभिन्न (परस्पर) विपरीत का वाचक है। ये सारे के सारे अर्थ कृषि (विज्ञान) में प्रत्यक्ष हैं। वाह शब्द **वह्** धातु से बनता है। जो आगे से आगे ले जाने के अर्थ में प्रचलित है। जैसे कि वाहन शब्द में स्पष्ट है।

विवाह एक युवक–युवति के मध्य में होता है। युवा अवस्था में प्रत्येक का शरीर और मन प्राकृतिक रूप से आगे से आगे गति करते हैं। गहराई से देखा–सोचा जाए, तो प्रत्यक्ष रूप से विवाहविधि में विवाहित जीवन से जुड़ी अपेक्षित ज़रुरतों, तात्कालिक अपेक्षाओं, क्रियाकलापों को ही दर्शाया जाता है। अतः यहाँ शीर्षक का विधि शब्द यही संकेत करता प्रतीत होता है जो कि ढंग, तरीका, प्रक्रिया अर्थ में प्रचलित है। मूलतः विधि शब्द यज्ञ से सम्बद्ध शास्त्रों में प्रायः प्रयुक्त होता है। यहाँ इसका यही अभिप्राय है कि प्रस्तुत प्रसंग में करने योग्य को कहा जाए अर्थात् इस प्रकरण में कर्त्ता के हित/पूर्णता के लिए यह–यह किया जाए/जाना चाहिए।

संस्कार– भारतीय भावना के अनुसार संस्कार एक विशेष, महत्वपूर्ण, गरिमा भरा तथ्य है। अतः इसको समझने के लिए संस्कार शब्द की प्रथम निर्माण प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं। तब इसका स्वारस्य स्वतः सामने आ जाएगा। यह **सम्** उपसर्ग पूर्व **कृ** धातु से सिद्ध होता है। **'संपरि करो तौ भूषणे'** अर्थात् **सम्** और **परि, कृ** धातु के उपसर्ग बनकर प्रयुक्त होते हैं तो वे भूषण=सजाना, निखारना, परिष्कार अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे कि वस्त्र, भवन के प्रसंग में प्रत्यक्ष है। वस्त्र का संस्कार, भवन का संस्कार, परिष्कार शब्दों का प्रयोग प्रायः इस दृष्टि से किया जाता है। तब उस–उस के दोषों को हटा कर तत्सम्बद्ध गुणों का आधान करने की प्रक्रिया वहाँ चलती है, जिसका अभिप्राय होता है, कि वह–वह वस्तु अच्छे रूप में सामने आ जाए। संस्कार शब्द का तदभव/पयार्यवाची शब्द **छौंक** प्रत्येक खाने वाले के लिए सर्वथा अनुभवगम्य है। हमारी पाकशाला में प्रतिदिन दाल, सब्जी में छौंक का व्यवहार होता है इस आधार से बाह्य तथा आन्तरिक (स्वाद का अन्तर) परिवर्तन प्रकट होता है। वहाँ कैसे अनोखापन आ जाता है। इसी बात को किसी के दोष निकाल कर गुण भर देने के रूप में शास्त्र दर्शाते हैं।

संस्कार सम्बद्ध साहित्य–संसार में मानव–जीवन को अच्छा बनाने के प्रारम्भ काल से अन्तिम अवस्था तक जो–जो करने का विधान है। वही–वही संस्कार शब्द के पूर्व में जोड़कर कहा जाता है। जैसे ***नामकरण–संस्कार, अन्नप्राशन संस्कार*** प्रभृति। अतः जीवन को जीवित, सम्मानित बनाने के लिए जो प्रक्रिया प्रथमबार की जाती है वहीं–वहीं कोई न कोई संस्कार सजाया जाता है। उदाहरण रूप में अन्नप्राशन को लेते हैं। शिशु माता के दूध का पान करके अपने जीवन को आगे बढ़ाता है। छः मास बीतते–बीतते वह अपर्याप्त रूप में अनुभव में आता है। तब अन्न प्रयोग अपेक्षित हो जाता है। इस स्थिति में जब प्रथम बार अन्न का प्राशन (=खाना) होता है। अतः वह ***अन्नप्राशन*** नाम से पुकारा जाता है।

संस्कारों की सामान्य चर्चा वेदों, ब्राह्मणों, स्मृति, ग्रन्थों आदि में भी प्राप्त हो जाती है। हाँ, पूरी प्रक्रिया कल्प आदि के अन्तर्गत आने वाले गृहय सूत्रों में सूत्रित हुई है। पारस्कर, गोभिल आदि अनेक गृह्यसूत्र आजकल पाठयक्रम में निर्धारित हैं।

कल्प– कल्प शब्द **क्लृप् (सामर्थ्ये)** धातु से बनता है। कल्प से वेदांगों में यज्ञ प्रक्रिया के ग्रन्थों का ग्रहण होता है। जैसे कि **श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृहयसूत्र और शुल्बसूत्र** श्रौतसूत्रों में श्रुति (वेद) में वर्णित यज्ञों का वर्णन है। धर्मसूत्र में यज्ञ करने–कराने वालों के धर्म=नियम,व्रत, कर्त्तव्य कहे गए हैं। गृहयसूत्रों में गृहस्थ में अपेक्षित पंचमहायज्ञों और विशेषतः नामकरण जैसे संस्कारों की विधि है। चौथे शुल्वसूत्रों में मण्डप, यज्ञकुण्ड, पात्रों की चर्चा है। ये शुल्ब सूत्र प्राचीन ज्यामिति=रेखागणित के शास्त्र हैं। इनमें सामान्य रूप में यज्ञशाला जैसी भवनकला भी चर्चा में आ गई है।

भारतीय भावना के अनुसार यज्ञ जीवन को सार्थक, सफल, कृतकृत्य, तारक बनाने के एक साधन के रूप में है। कल्प शब्द यज्ञ साहित्य के लिए इसीलिए आया है। कायाकल्प से यह तथ्य पूर्ण प्रमाणित होता है। कायाकल्प आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान की प्राकृतिक पद्धति में परिगणित होती है। यहाँ दूध, दही, फल विशेष को विधिपूर्वक खिलाकर शरीर को रोग–दोषरहित, पुष्ट, तरोताज़ा बनाया जाता है अतः यज्ञ ऐसे ही जीवन {यजमान} को स्वर्ग=सुख, सन्तोष, आनन्द मोक्षदायक माने गए हैं। कल्प शब्द **(क्लृप् सामर्थ्ये)** के आधार पर सामर्थ्यवान, शक्तिशाली बनाने के अर्थ में प्रचलित है। जैसे कि कायाकल्प की प्रक्रिया में प्रसिद्ध है। कल्प एक वेदांग है, तभी तो वैदिक वाङ्मय में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदांग हैं।

वेदांग–वेदांग शब्द वेद और अंग के योग से बना है। वेद शब्द **विद्** धातु से सामने आता है और विद् धातु ज्ञान –विचार, लाभ तथा सत्ता =होने अर्थ को अभिव्यक्त करती है। आयुर्वेद, गन्धर्ववेद, पंचम वेद (=महाभारत) आदि के समान यहाँ सामान्यतः ज्ञान अर्थ में वेद आ सकता है पर भारतीय साहित्य की मूल भावना के अनुसार मुख्यतः ऋग्, यजुः, साम तथा अथर्ववेद का वाचक है।

अंग शब्द सामान्यतः किसी के भाग, हिस्से के अर्थ में चलता है। विशेषतः शरीर के मुख, नत्र, श्रोत्र आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है जो कि शरीर से होने वाले कार्यों में सहायक बनते हैं। ठीक ऐसे ही वेद से सिद्ध होने वाले अर्थ– अभिव्यक्ति , धार्मिक कर्म–काण्ड में सहयोग देकर कार्य सहायक वेदांग बनते हैं। दार्शनिक दृष्टि या शरीर विज्ञान की दिशा से इन्द्रिय शब्द अधिक सार्थक है। पाणि ानि मुनि ने इन्द्रिय शब्द को स्पष्ट करने के लिए एक विशेष सूत्र दिया है। वह है। **–इन्द्रियमिन्द्र लिंगमिन्द्र दृष्टमिन्द्र सृष्टमिन्द्र जुष्टमिन्द्र दत्तमिति वा** पा. 5,2,93 शरीर साम्राज्य के राजा–जीवात्मा की पहचान कराने वाले , जीव द्वारा किए जाने कार्यों के सहयोगी। इस–इस को देखने–सुनने में एकमात्र सहायक बनने वाले नेत्र, श्रोत्र जैसे अंग/करण/साधन हैं। हमारे शरीरों में ज्ञान+इन्द्रियाँ {ज्ञान होने में सहायक बनने वाली के रूप में नेत्र, श्रोग, नासिका, रसना, त्वचा नामक पाँच है। ऐसे ही कर्म करने में सहायता करने वाली पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं–हाथ, पैर, वाणी, बल और मूत्र में सहायक अंग। नेत्र (आँख) से देखते हैं, श्रोत्र (कर्ण) से सुनते हैं, रसना {जिह्वा} से मीठे, खट्टे, नमकीन, कड़के, तीखे, चरपरे, रसों (स्वादों) को लेते हैं। त्वचा (चमड़ी) में रहने वाली इन्द्रिय गर्म–सर्द, नम्र –कठोर स्पर्श का अनुभव होता है।

जीभ में एक साथ दो इन्द्रियाँ हैं, एक रसना जो मधु आदि रस, स्वाद का बोध करती है। यह ज्ञानेन्द्रिय में गिनी जाती है। इसी में वाणी (वाक्) है, इसके द्वारा बोलने का कर्म/क्रिया होती है। अतः यह कर्मेन्द्रिय में आती है। हाथ–पैर, मल–मूत्र करने वाली पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। स्मरण रहे कि **'भद्र कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिः'**–जैसे मन्त्रों में कर्ण, नेत्र का सामान्य वर्णन है। आगे के शास्त्रों में विस्तार से इनका वर्णन है। परिणय प्रक्रिया के प्रारम्भ में प्रथम अम्यागत विधि का क्रम आता है। अम्यागत (अभि+आगत) शब्द का अभिप्राय है। जो अभी/कुछ समय पूर्व आया है। व्यावहारिक/सामयिक दृष्टि से जो कुछ समय पूर्व जिस का सम्बन्ध जुड़ा है, जो कुछ समय पूर्व दल–बल सहित बारात के साथ आया है, उसका आदरपूर्वक यथायोग्य यथाविधि सत्कार करना। भारतीय भावना में **'अतिथि देवो भव'** {आने वाले के प्रति देव/पूज्य/आदर भरी भावना दर्शाओ} अतिथि यज्ञ (आने वाले का स्वागत कर्म) एक प्रतिष्ठित प्रतिष्ठा रखता है। होशियारपुर के समीपवर्ती प्रदेश में वर (=दुहले) को पहुना/परहुना अर्थात् अतिथि/आदरणीय कहा जाता है। प्रायः प्रत्येक प्रदेश में मिलती–जुलती भावना है।

अभ्यागत विधि में बैठने की बात, हाथ–पैर धोने की अपेक्षा, जलपान और तदनन्तर मधुपर्क प्रस्तुत किया जाता है। मधुपर्क में शास्त्रीय दृष्टि से शहद, दही तथा घृत का विधान है। इस प्रकार का मिश्रण अरुचिकर हो जाता है। अतः आजकल दही–मधु का चलता है। अब इन दोनों का मिश्रण भी अरुचिकर श्रेणी में आ रहा है। मेरी दृष्टि से इन तीनों और इन के उत्पादों को अलग–अलग वर्ता जाए। जैसे–दही–भल्ला। यह सर्वत्र–सदा रुचि पूर्वक खाया जाता है। यह मूल भावना के अनुरूप भी है। यहाँ मूल भावना तो यही ही है, कि पौष्टिक भोजन का सेवन। इस बढ़ती आयु के साथ शरीर की स्वाभाविक अपेक्षा होती है, कि अब पौष्टिक पदार्थों का विशेष सेवन किया जाए। अतः शास्त्र यहाँ उदाहरण के रूप में घृत–दही–मधु का प्रयोग दर्शाते हैं। ये तीनों और इनसे

शेष पृष्ठ 09 पर ☞

ईश्वर हमारा माता, पिता और आचार्य भी है

● मनमोहन कुमार आर्य

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनादि, अनन्त, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय एवं सृष्टिकर्ता है। वह जीवात्माओं के जन्म–जन्मान्तर के कर्मों के अनुसार न्याय करते हुए उन्हें भिन्न–भिन्न योनियों में जन्म देकर उनको सुख व दुःख रूपी भोग व फल प्रदान करता है। संसार में असंख्य प्राणी योनियाँ देखने को मिलती हैं। इन सभी योनियों में 'मनुष्य योनि' ही एक ऐसी योनि है जो उभय योनि कहलाती है। यह कर्म करने सहित भोग योनि होने से उभय योनि कहलाती है। मनुष्येत्तर अन्य सभी योनियाँ केवल भोग योनियाँ होती हैं। भोग योनियों यथा पशु–पक्षी व कीट–पतंग आदि योनियों में हम अपने पूर्वजन्मों में किए हुए पाप कर्मों का फल भोगते हैं और मनुष्य योनि मिलने पर हमें अपने पूर्वजन्मों के पाप व पुण्य कर्मों का भोग सुख व दुःखों के रूप में प्राप्त होता है। मनुष्य योनि में पूर्व कर्मों के फलों का भोग करने के साथ हम नए कर्मों को भी करते हैं जिससे हमारी आत्मा सहित शरीर की उन्नति होती है। आत्मा की उन्नति होने पर मनुष्य पुण्य कर्मों को करता है जिससे उसे सुखों की प्राप्ति होती है तथा मृत्यु के बाद अवशिष्ट पुण्य कर्मों के कारण उसे पुनः मनुष्य योनि प्राप्त होती है। परमात्मा अनादि काल से जीवों के लिए प्रत्येक प्रलय काल के बाद सृष्टि को बनाता व उसका पालन करता है। हम सृष्टि काल में जन्म लेकर सृष्टि के पदार्थों का भोग करते हुए अपनी शारीरिक तथा आत्मा की उन्नति के कार्यों सहित ज्ञान प्राप्ति, ईश्वरोपासना, परोपकार व दान आदि कर्मों को करते हैं।

हम प्रायः विचार ही नहीं करते कि परमात्मा हमारा माता, पिता और आचार्य भी है। परमात्मा के अगणित गुण, कर्म व स्वभाव हैं जिनकी गणना मनुष्य नहीं कर सकते। परमात्मा सब जीवों के माता व पिता सहित आचार्य के कर्त्तव्यों का निर्वहन भी करता है। माता निर्माता होती है। वह जन्मदात्री व पालनकर्त्री भी होती है। वह अपनी सन्तानों को भाषा का ज्ञान कराकर उसे संस्कारों की शिक्षा भी देती है जिससे मनुष्य असुरत्व को त्याग कर देवत्व में दीक्षित होता है। यह सभी कार्य परमात्मा भी सभी जीवों के प्रति सदा से करता आ रहा है। परमात्मा न केवल हमें जन्म देता है अपितु हमारी मृत्यु के समय वही हमारी आत्मा को प्रेरणा कर शरीर से बाहर निकालता है। आत्मा का जो कर्म संचय होता है उसे केवल परमात्मा ही जानता है। परमात्मा उस कर्म संचय वा प्रारब्ध के अनुसार जीवात्मा के लिए योग्य माता–पिता का चयन कर उनके द्वारा आत्माओं को जन्म देने के लिए प्रत्येक आत्मा को उसके योग्य पिता व माता के शरीर में प्रविष्ट कराता है। जीवात्मा पहले पिता के शरीर में जाता है, उससे माता में और फिर शिशु का शरीर बनने पर प्रसव द्वारा संसार में आता है जिसे जीवात्मा का जन्म कहते हैं। माता के शरीर में शिशु का शरीर परमात्मा वा उसकी व्यवस्था द्वारा ही बनाया जाता है। शिशु जन्म के बाद भी परमात्मा द्वारा ही उस शिशु की रक्षा व पालन के अनेक उपाय किए जाते हैं। माता तो केवल अपने शिशु को दुग्ध व अन्न खिलाती है परन्तु शरीर में पहुँचकर उस दुग्ध व अन्न से शरीर की वृद्धि, आरोग्यता व बल आदि की प्राप्ति परमात्मा ही कराता है। माता, पिता को जो शरीर मिले हैं व दुग्ध व शारीरिक शक्तियाँ उनके पास होती हैं, वे सब भी परमात्मा प्रदत्त ही होती हैं। नए बालक बालिकाओं के लिए ये सब व्यवस्थाएँ परमात्मा द्वारा की गयी होती हैं जिससे परमात्मा माता व पिता दोनों कहलाता है।

माता–पिता बालक को प्राथमिक शिक्षा, ज्ञान व संस्कार देते हैं। यही कार्य जीवात्माओं के अन्तर्मन व शरीर में परमात्मा भी सर्वान्तर्यामी स्वरूप से करता है। परमात्मा ही शुभ कर्मों का प्रेरक होता है। हमारी आत्मा में सत्कर्मों के प्रति जो प्रेम व उत्साह उत्पन्न होता है तथा अशुभकर्मों के प्रति जो भय, शंका व लज्जा होती है, उसे भी परमात्मा ही उत्पन्न करते हैं। परमात्मा ने ही सब जीवों के लिए पिता द्वारा आवास गृह बनाए जाने की भाँति इस सृष्टि व भूमि को बनाया है जो हमें आश्रय का सुख देती है। पृथिवी पर परमात्मा ने हमारे लिए वायु, अग्नि, प्रकाश, जल, अन्न, दुग्ध, फल, ओषधियाँ आदि नाना प्रकार के पदार्थ बनाकर निःशुल्क प्रदान कर रखे हैं। हम अपनी आवश्यकता के अनुसार पृथिवी में अन्नादि पदार्थों को उत्पन्न कर सकते हैं और इनका सेवन कर सकते हैं व अपने प्रियजनों को भी करा सकते हैं। परमात्मा ने ही हमें माता–पिता की भाँति सृष्टि के आरम्भ में चार वेदों का ज्ञान दिया था।

चारों वेद मनुष्य को ईश्वर व आत्मा सहित संसार के सभी पदार्थों का सत्यस्वरूप बताते हैं। उपनिषद व दर्शन ग्रन्थों को पढ़कर भी वेदों के मुख्य तात्पर्य को समझा जा सकता है। वेद सहित उपनिषद, दर्शन तथा विशुद्ध मनुस्मृति ग्रन्थों का अध्ययन करने से मनुष्य की प्रायः सभी जिज्ञासाओं का समाधान हो जाता है। इससे मनुष्य के सभी भ्रम व भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं। वह सत्य व असत्य के स्वरूप को भली भाँति जानकर वेदविहित व निर्दिष्ट कर्मों के करने में प्रवृत्त होकर जीवन की उन्नति को प्राप्त होता है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य शारीरिक, आत्मिक व सामाजिक उन्नति करना होता है जो वेदाध्ययन एवं वेदों का आचरण करने से होती है। आत्मा जन्म व मरणधर्मा है, आत्मा का अनादि काल से जन्म व मरण होता आ रहा है, आगे भी होता रहेगा। आत्मा के जन्म का कारण उसके कर्म होते हैं जो उसने पूर्वजन्मों में किए होते हैं जिनके सुख व दुःखरूपी फलों का भोग वह मृत्यु हो जाने आदि कारणों से नहीं कर पाता। इन्हीं अवशिष्ट कर्मों के फलों के भोग के लिए जीवात्माओं का जन्म होता है। जन्म व मरण तथा जीवन काल में आत्मा को अनेक दुःख होते हैं। इन दुःखों के कारण कर्मों का सुधार करने पर मनुष्य अनेक दुःखों से बच जाता है। दुःखों की पूर्ण निवृत्ति मोक्ष की प्राप्ति होने पर होती है। मोक्ष विषयक विधान भी वैदिक ग्रन्थों व ऋषियों के ग्रन्थों सहित ऋषि दयानन्द के बनाए सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ के नवम समुल्लास में उपलब्ध होता है। यह वर्णन ऋषि दयानन्द ने अपने वेद ज्ञान व समस्त वैदिक साहित्य के ज्ञान के आधार पर ही किया है जिसका आदि कारण परमात्मा ही हैं अतः मनुष्य को सृष्टि में जो ज्ञान प्राप्त हुआ है व होता है वह ज्ञान भी परमात्मा ने वेदों के द्वारा सृष्टि के आरम्भ में ही दिया था। वेदों का ज्ञान देने से परमात्मा माता, पिता व आचार्य की सभी भूमिकाएँ पूरी करता है, यह विचार करने पर स्पष्ट होता है।

सभी आचार्य अपने शिष्यों को ज्ञान देकर उनके जीवन का कल्याण करते हैं। वस्तुतः मनुष्य ज्ञान व संस्कारों को प्राप्त होकर ही सच्चा व अच्छा ज्ञानी वा विद्वान् मनुष्य बनता है। यह कार्य सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने चार ऋषियों को वेदों का ज्ञान देकर किया था। फिर उन ऋषियों ने ईश्वर की प्रेरणा से ही वेदज्ञान को अन्य मनुष्यों में प्रचारित व प्रसारित किया। आज भी यह ज्ञान हमें परम्परा से प्राप्त है। हमारे सभी आचार्य व गुरु भी वेद ज्ञान को पढ़कर ही हमें पढ़ाते व शिक्षा देते हैं। वेदों को पढ़ व पढ़ाकर ही मनुष्य आचारवान बनता है। आचार्य का काम अपने शिष्यों को आचारवान बनाना ही होता है। यह काम परमात्मा व आचार्य दोनों मिलकर करते हैं। सृष्टि के आरम्भ काल में वेद ज्ञान देने व आदि ऋषियों का आचार्य होने के कारण परमात्मा सब मनुष्यों व प्राणियों का आचार्य भी है। मनुष्येत्तर पशु पक्षी योनियों में सबको परमात्मा ने ही स्वाभाविक ज्ञान दिया है। उसी के दिए ज्ञान से सभी पशु व पक्षी अपने–अपने व्यवहार करते हैं। इस दृष्टि से भी परमात्मा ही मनुष्यों व सभी प्राणियों का आचार्य भी सिद्ध होता है।

परमात्मा सब मनुष्यों सहित पशु पक्षियों आदि प्राणियों का भी माता, पिता व आचार्य है। इससे सम्बन्धित चर्चा हमने इस लेख में की है। हम आशा करते हैं कि पाठक इस लेख को पसन्द करेंगे। ओ३म् शम् ।

196 चुक्खूवाला–2
देहरादून– 248001
मो. 09412985121

☞ पृष्ठ 08 का शेष

विवाह विधि का ...

सम्बद्ध पदार्थ पौष्टिक और सात्विक हैं। शरीर की अपेक्षा के अनुरूप सारे पोषक तत्त्व इनसे सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। हाँ, रूचिभेद से किसी एक–दो को प्रमुखता दी जा सकती है। जीवन में मधुरता, स्नेह, पवित्रता, पुष्टि का भी ये सन्देश देते हैं।

विधि के मध्य और अन्तिम भाग में पारस्परिक सम्बन्ध को निभाने, सुदृढ़ करने की दृष्टि से संकल्प, प्रतिज्ञा, व्रत आदि की घोषणा मन्त्रपूर्वक होती है। ईश्वर, सहयोगियों को धन्यवाद देने के लिए यज्ञ का आयोजन/सूर्य आदि सदृश हम भी कर्त्तव्य पथ के पथिक बने रहेंगे की भावना अभिव्यक्त करते हुए पाषाण स्पर्श, सूर्यदर्शन, सहभोज, मांग–भरण जैसी विधियाँ भी आयोजित होती हैं। शुभकामना, बधाई पूर्वक शान्तिपाठ से समापन सामने आता है।

'विवाह नाम है–दायित्वों का, एक–दूसरे के प्रति समर्पण का, आपस की भूलों–कमियों के प्रति उदारता का तथा समय पड़ने पर त्याग करने का।'

182, शालीमार नगर
होशियारपुर–146001

पत्र/कविता

हरगोविन्द पन्त

हरगोविन्द पन्त का जन्म 19 मई, 1885 को अल्मोड़ा के नज़दीक चितई गाँव में हुआ था। उनकी माता आनंदी देवी धार्मिक विचारों की विदुषी महिला थीं। उनके पिता धर्मानंद पंत सरकारी कर्मचारी रहे। उन्होंने प्रारंभिक पढ़ाई अपने गाँव के ही विद्यालय से की। माध्यमिक
शिक्षा अल्मोड़ा से ग्रहण करने के बाद वे आगे की पढ़ाई के लिए प्रयागराज चले गए। 1909 में सेंट्रल कालेज से उन्होंने विधि स्नातक (एल एल बी) की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद रानीखेत आकर वकालत शुरु कर दी। आज़ादी के आंदोलन को धार देने के लिए वे कांग्रेस में शामिल हुए। अपनी कार्यशैली के कारण वे 10 बार कांग्रेस के जिलाध्यक्ष बने। 1916 में कुमाऊं में स्वतंत्रता आंदोलन को सक्रियता के साथ आगे बढ़ाने के लिए **'कुमाऊँ परिषद्'** का गठन किया। 1921 में उत्तरायणी मेले में कुली उतार, बेगार प्रथा को अमानवीय व गैरकानूनी करार दिया। बागेश्वर उत्तरायणी मेले में उन्होंने कुप्रथा के रजिस्टर सरयू नदी में बहा दिए।

पंत को अल्मोड़ा कांग्रेस की रीढ़ कहा जाता था। ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ मुखर होने के कारण उन्हें यातनाएँ भी सहनी पड़ीं। 1930, 32, 1940 के आंदोलनों में उन्हें कठोर कारावास की सजा सुनाई गई। भारत छोड़ो आंदोलन में अल्मोड़ा जिले में सबसे पहले उन्हें ही नज़रबंद किया गया। उन्होंने कुल छह वर्ष तक जेल की कठोर यातनाएँ सहीं। हरगोविंद पंत ने कई सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए समाज सुधार के कार्य किए। उन्होंने उस समय प्रचलित कुलीन ब्राह्मणों के द्वारा हल चलाने की प्रथा को तोड़ा। बागेश्वर में खुद 1928 को हल चलाकर इस प्रथा को खत्म करने का कार्य किया। हरगोविंद पंत ने सन् 1939 में सेराघाट के सरयूतट पर बोरा कार्की (कुथलिया बौर) कहे जाने वाले समुदाय के पुरुषों का सामूहिक यज्ञोपवीत संस्कार कराया। यह घटना हरगोविंद पंत के महान स्वतंत्रता सेनानी होने के साथ–साथ श्रेष्ठ समाज सुधारक होने का भी जीवंत प्रमाण है। प. पंत ने सल्ट सत्याग्रह का सूत्रपात किया।

स्वामी गुरुकुलानन्द कच्चाहारी
'इतिहास के बिखरे पन्ने' से साभार

****

...खैर न पाकिस्तान की

तडप उठा भारत का जन–मन, खैर न पाकिस्तान की।
वीर शिवा की भी जननी यह, नहीं मात्र चौहान की।।

देखा–परखा शौर्य है तेरा, एक नहीं कई बार का।
लडकर तूने फल पाया है, यहां करारी हार का।।
पैंसठ में तू पिटकर बैठा, तूने कर्म किये काले।
इकहत्तर में हमने तेरे, टुकड़े–टुकड़े कर डाले।।
एक लाख सेना ने मांगी, भिक्षा जीवन दान की। ..
वीर शिवा की भी जननी यह, नहीं मात्र चौहान की।।

लडते–लडते हार–हारकर, जब तू साधनहीन हुआ।
कायरता की कालिख के, कारण तू तेरह–तीन हुआ।।
दो टुकड़े हो गये और, दुनिया में तू बे दीन हुआ।
अश्रु पौंछने वाला तब, बौनी बुद्धि का चीन हुआ।।
माना हमने हुई एकता, कायर और शैतान की..
वीर शिवा की भी जननी यह, नहीं मात्र चौहान की।।

3. पाक नाम नापाक काम हैं, कायरता का पुतला तू।
साहस और शौर्य के सागर, को समझा है उथला तू।।
लेकिन तेरी अब सहायता, चीन नहीं कर पाएगा ।
शस्त्र इकट्ठे कर ले लेकिन, इनको कौन चलायेगा ?
हिम्मत तो अर्जित कर ले तू, पहले शर–सन्धान की ..
वीर शिवा की भी जननी यह, नहीं मात्र चौहान की।।

भूल न जाना वीर शिवा का, रक्त हमारी बांहों में ।
अट्टहास को देर न लगती, यहां बदलते आहों में।।
युद्ध भूमि में हो जाते हैं, काल यहां के बालक भी।
हृदय से हैं वीर बुद्धि से, कूटनीतिक संचालक भी।।
हमें देर लगती है केवल, बलिदानी आह्वान की।
वीर शिवा की भी जननी यह, नहीं मात्र चौहान की।।

क्षमा वीर का भूषण है, लेकिन अति घातक होती है।
दुष्टों पर की दया फर्ज के, में संग में पातक होती है।।
पृथ्वीराज की नादानी का, फल भी भोग लिया हमने।
''दया धर्म है'' को अपनाने, का भी रोग लिया हमने।।
आज याद आ गई है हमको, गीता के सद् ज्ञान की..
वीर शिवा की भी जननी यह, नहीं मात्र चौहान की।।

पाक पूछ औरंगजेब से, नींद उड़ाई थी किसने?
अफजल खां का पेट फाड़कर, करी चढ़ाई थी किसने??
बर्लिन और जापान–रूस तक, धूम मचाई थी किसने ?
करगिल की ताजा घटना में, मुंह की खाई थी किसने??
सब जग ने दुर्गति देख ली, तेरे गर्व–गुमान की।
वीर शिवा की भी जननी यह, नहीं मात्र चौहान की।।

अब जो युद्ध हुआ तो छिपने, ठौर मिलेगा कहीं नहीं।
बम की धमकी देगा तो, लाहौर मिलेगा कहीं नहीं।।
हमें पता है कितना साहस, होता है पाखण्डी में।
यही तिरंगा लहरायेगा, जाकर रावलपिण्डी में ।।
मिट जायेगी मानचित्र से, सूरत पाकिस्तान की।
वीर शिवा की भी जननी यह, नहीं मात्र चौहान की।।

रामनिवास 'गुणग्राहक'
चलभाष – ९०७९०३९०८८

माननीय प्रधान जी से आई है डीएवी में क्रान्ति

महात्मा हंसराज दिवस पर प्रारंभ से अंत तक इस कार्यक्रम मैं सम्मान हेतु जो परिश्रम आप सबने किया है। उसके लिए बहुत–बहुत आभार। ईश्वर आप सबको दीर्घायु, स्वस्थ एवं आनंदित करें, महर्षि दयानंद के कार्यों को इसी तीव्र गति से आप जग भर में फैलाते रहें।

हिमाचल के सभी हमारे सेवाभावी प्रिंसिपलों, शिक्षकों,शिक्षैत्री महानुभावों का भी हृदय की गहराई से धन्यवाद करता हूँ।

डी.ए.वी. कमेटी के हमारे प्रधान माननीय पूनम सूरी महोदय जी ने डीएवी में आर्य समाज के प्रति जो विचारों को बढ़ाया है एवं लाखों लाख विद्यार्थी जिससे ज्ञान पा रहे हैं अर्थात् डीएवी में जो क्रांति माननीय प्रधान जी के आने से आई है निश्चित तौर पर यह एक आर्य समाज का बहुत बड़ा उपक्रम होगा जिससे हम पुनः **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** का उद्घोष सार्थक करने में सफल होंगे, मैं पुनः आपके इस वृहद परिवार को बहुत–बहुत धन्यवाद एवं आभार व्यक्त करता हूं, परमेश्वर से प्रार्थना है कि आप सभी नित्य निरंतर अभिवृद्धि करते हुए उन्नति प्राप्त करें।

आचार्य मनुदेव
आदिम गुरुकुल आश्रम कुंदुली
कोरापुट ओडीशा

****